

## समकालीन युग में शिक्षा की समस्या – एक दार्शनिक अध्ययन

डॉ० अरूण कुमार सिंह\*

वर्तमान शिक्षा-प्रणाली अन्तर्राष्ट्रीयता और विश्व-बन्धुत्व की धारणा का प्रसार नहीं करती। वह मस्तिष्क को उन्मुक्त नहीं करती, न आत्म-साक्षात्कार के लिए ले जाती है। राधाकृष्णन् के शब्दों में – “हमारी शिक्षा ने हमें बौद्धिक बन्धनों से स्वतंत्र नहीं किया है। वह मस्तिष्क को उत्तेजित तो करती है परन्तु तृप्त नहीं करती। हम कविता पढ़ते हैं, चलचित्र देखते हैं तथा उपन्यास पढ़ते हैं और समझ लेते हैं कि हम सुसंस्कृत हैं। हमारा विवेक केवल दिखावा है।”<sup>1</sup> आज डाक्टर की दृष्टि रोगी की निरोगता की तरफ नहीं अपितु रूपयों की तरफ है कि अब यह जाल में फंस गया, इससे अधिक-से-अधिक रूपये कैसे ऐंटे जायें। पहले वैद्य लोग रोग की नब्ज देखकर अपनी बुद्धि लगाते थे पर अब डाक्टर सीधे तरह-तरह की मशीनी जांच लिख देते हैं, क्योंकि उन्हें प्रत्येक जांच में कमीशन मिलता है। स्कूल-कालेजों में भी घूस (डोनेशन) देकर दाखिला मिलता है। अध्यापक स्कूलों में भलीभांति नहीं पढ़ाते, जिससे विद्यार्थी ट्यूशन लगाने के लिए मजबूर हो जाता है। कोई किसी की सहायता, सेवा या उपकार भी करता है तो उसकी दृष्टि पैसा कमाने के तरफ रहती है। बिना पैसे के कोई किसी के लिए कुछ नहीं करना चाहता।

समकालीन युग में शिक्षा रोजगार-परक तो है, लेकिन मूल्य परक नहीं रह गई है। इसके कारण को मैं लार्ड मैकाले के सन 1835, 2 फरवरी को ब्रिटिश संसद के सम्मुख दिए गए उद्बोधन को उद्धृत करता हूँ –

“मैंने भारत की चर्तुदिक यात्रा की और एक भी ऐसा आदमी नहीं देखा जो भिखमंगा हो, चोर हो। इस देश में मैंने इतनी सम्पदा, इतना उच्च नैतिक मूल्य, इतने उच्च क्षमतावान व्यक्ति देखे कि मैं सोचता हूँ कि हम कभी भी उस देश को नहीं जीत सकेंगे, जब तक कि हम इसकी रीढ़ की हड्डी उसकी आध्यात्मिकता और सांस्कृतिक विरासत – को तोड़ नहीं देते। इसलिए मैं प्रस्ताव करता हूँ कि उसकी परिपक्व और प्राचीन शिक्षा प्रणाली और उसकी संस्कृति को बदल दिया जाये क्योंकि अगर

भारतीय यह सोचने लगे कि जो कुछ भी विदेशी और अंग्रेजी है, वह अच्छा है और उनसे उच्चतर है तो वे अपना स्वाभिमान, अपनी मातृ संस्कृति को खो बैठें और वे वह बन जायेंगे जो हम चाहते हैं, सचमुच में एक शासित परतंत्र राष्ट्र।”<sup>2</sup>

आज हम वैज्ञानिक दृष्टि से तो समुन्नत हो रहे हैं, किन्तु सांस्कृतिक एवं सांस्कारिक दृष्टि से विपन्नता की ओर बढ़ रहे हैं। आज के समाज की अराजकता वर्तमान में शिक्षा की सही प्रणाली का न होना है। प्राचीन युग में चाहे वह वैदिक काल रहा हो, औपनिषदिक काल रहा हो, रामायण काल रहा हो, महाभारत काल रहा हो, या बौद्ध, जैन, शैव, शाक्त, सूफी की छवि देने का काम किया हो।

संत या वर्तमान काल की भारतीय शिक्षा पद्धति ही क्यों न हो सबमें हमें मूल्योन्मुखी शिक्षा ही दिखाई देती है। मूलकारण यह था कि बालकों की शिक्षा के तीनों क्षेत्र घर, विद्यालय एवं इन दोनों के बाहर सभी में सामन्जस्य था। अपने माता-पिता के आचार-विचारों और व्यवसाय की बहुत कुछ शिक्षा बालकों को अपने घर में ही मिल जाती थी। जो साक्षर होकर गुरुकुल में जाते थे, उन्हें शास्त्रों का अध्ययन करना पड़ता था। वे बाहर समाज में वे ही आचार-विचार देखते थे जिनकी उन्हें घर तथा गुरुकुल में शिक्षा मिलती थी।<sup>3</sup> इस प्रकार शिक्षा और व्यावहारिक जीवन में सामन्जस्य बना रहता था।

21वीं सदी के लिए मूल्योन्मुखी शिक्षा का दार्शनिक विश्लेषण करना ही इस लेख का मुख्य उद्देश्य है। विश्व में आधुनिक शिक्षा का जितना प्रचार-प्रसार पिछले लगभग 50 वर्षों में हुआ, उतना पहले कभी नहीं हुआ एवं विकासशील देशों में तो पिछले 25-30 वर्षों में अधिकाधिक लोगों को शिक्षित करने के अथक प्रयास हुए हैं। परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि इतने प्रयत्न के बाद भी जिन्हें हम शिक्षित, सम्यक् एवं सुसंस्कृत कहते हैं वे लोग संसार में अधिक से अधिक अशान्ति, तनाव एवं हिंसा फैलाते देखे जाते हैं जबकि इनकी तुलना में अनपढ़ लोग इन दोषों से दूर रहे हैं। आज का मनुष्य चांदतारों को छूकर आ गया परन्तु उसके मन में उदासीनता बनी हुयी है, वह निराशा व सूनेपन से भरा हुआ है। पश्चिमी देशों में जिस प्रकार शरीर को आत्मा के विपरीत मानकर भौतिकवाद लाया गया, उसी प्रकार विवेक के स्थान पर बौद्धिक ज्ञान को दिये गये महत्व के कारण बुद्धिवाद, वैचारिक उहापोह एवं तार्किक विश्लेषण का जन्म हुआ। परिणाम यह हुआ कि शरीर पर दिये गये जोर के कारण मनुष्य प्रकृति से अधिकाधिक दूर होता गया एवं तनावग्रस्त व असहज होता गया। उधर बौद्धिकता एवं तर्क प्रधानता ने केवल शब्दों का जाल खड़ा करा दिया तथा वस्तुतः ज्ञान को ज्ञान का आधार बना दिया।

शिक्षा का अभिप्राय तो जीवन को जीना ही नहीं सिखाना है वरन् जीवन को जानना भी है। दर्शन के अनुसार दर्शन का विस्तार केन्द्र मनुष्य होता है अर्थात्

उसके वास्तविक स्वरूप को जानना और उसके जीवन के अन्तिम उद्देश्य को जानने का प्रयत्न करना भी है। समस्त मानव—जाति का विकास शिक्षा के द्वारा ही होता है। शिक्षा ही वह मूल साधन है जिससे मानव सभ्य, बुद्धिजीवी एवं संस्कृत होता है। शिक्षा के द्वारा मनुष्य में सीखने की क्रिया जन्म से लेकर मृत्यु तक सदैव चलती रहती है। सुनियोजित एवं सप्रयोजनात्मक सीखने की क्रिया ही शिक्षा है।<sup>4</sup> इस शिक्षा—प्रक्रिया के स्वरूप की व्याख्या करने में मूल भूमिका दार्शनिकों, समाजशास्त्रियों, राजनीतिशास्त्रियों, अर्थशास्त्रियों एवं मनोवैज्ञानिक आदि सभी ने प्रस्तुत की है एवं सभी ने अपने-अपने दृष्टिकोणों से देखा—परखा तथा परिभाषित किया है।

वेदान्त के अनुसार — “शिक्षा का अर्थ है जो हमारे भीतर छिपा है, उसका अनावरण।” “सा विद्या या विमुक्तये।”<sup>5</sup> अर्थात् शिक्षा वह जो मुक्त करे। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार — “मनुष्य की अन्तर्निहित पूर्णता को अभिव्यक्त करना ही शिक्षा है।”<sup>6</sup> गांधी जी ने शरीर, मन एवं आत्मा इन तीनों के विकास पर समान बल दिया। उनके अनुसार — “शिक्षा से मेरा तात्पर्य बालक और मनुष्य के शरीर, मन तथा आत्मा के सर्वांगीण एवं सर्वोत्कृष्ट विकास से है।”

प्लेटो के अनुसार — “शिक्षा का कार्य मनुष्य के शरीर और आत्मा को वह पूर्णता प्रदान करना है जिसके कि वह योग्य है।” अरस्तू — “स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन का निर्माण ही शिक्षा है।” चार्वाक — “शिक्षा वह है जो मनुष्य को सुख पूर्वक जीवन व्यतीत करने के योग्य बनाती है।”

हरबर्ट स्पेन्सर — “शिक्षा का अर्थ अंतःशक्तियों का बाह्य जीवन से समन्वय स्थापित करना है।” जॉन डीवी — “शिक्षा व्यक्ति की उन सब योग्यताओं का विकास है जो उसमें अपने पर्यावरण पर नियंत्रण रखने तथा अपनी सम्भावनाओं को पूर्ण करने की सामर्थ्य प्रदान करे।”<sup>7</sup>

समाजशास्त्री शिक्षा को व्यक्ति और समाज के विकास का साधन मानते हैं। इनके अनुसार शिक्षा सामाजिक प्रक्रिया है। मनुष्य की पूरी सभ्यता एवं संस्कृति का विकास सामाजिक प्रक्रिया का ही परिणाम है। ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों के विकास और भाषा ज्ञान होने के बाद मनुष्य स्वतंत्र रूप से चिन्तन, मनन व परीक्षण करता है किन्तु समाज के अभाव में न तो वह भाषा सीख सकता है और न विचार करना।

मनुष्य का जन्मजात व्यवहार पशुवत होता है। शिक्षा के द्वारा उसके इस व्यवहार में परिवर्तन एवं परिमार्जन किया जाता है। मनुष्य की शिक्षा उसे केवल परिस्थितियों के साथ समायोजन करना ही नहीं सिखाती अपितु उसमें अपने अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण करने की क्षमता का विकास भी करती है।

“इस प्रकार शिक्षा एक प्रक्रिया है और वह एक सामाजिक कार्य है जो कोई भी समाज अपने हित के लिए करता है।” राजनीतिशास्त्रियों के अनुसार —

“वास्तविक शिक्षा वह है जो श्रेष्ठ नागरिकों का निर्माण करती है।” अर्थशास्त्रियों के अनुसार — “शिक्षा वह आर्थिक निवेश है जिसके द्वारा व्यक्ति में उत्पादन एवं संगठन के कौशलों का विकास किया जाता है और इस प्रकार व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की उत्पादन क्षमता बढ़ाई जाती है और उनका आर्थिक विकास किया जाता है।” मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि से शिक्षा का अर्थ है मनुष्य की वाह्य इन्द्रियों और अन्तःकरण का प्रशिक्षण।<sup>8</sup>

अब तक हमने शिक्षा की जो भी परिभाषायें देखी हैं, उनमें ज्यादातर दो प्रकार के दोष परिलक्षित होते हैं — एक तो यह कि इनसे शिक्षा प्रक्रिया की प्रकृति का स्पष्ट बोध नहीं होता है और दूसरा यह कि ये शिक्षा के किसी उद्देश्य विशेष पर ही बल देती है। यही कारण है कि शिक्षा की सर्वमान्य परिभाषाएं नहीं हो सकीं।

दर्शन ही मानव चिन्तन की सर्वोत्तम सीमा है। सृष्टि के समस्त जड़—चेतन का वास्तविक ज्ञान ही दर्शन का विषय रहा है। परन्तु भारतीय एवं पाश्चात्य चिन्तन में अंतर रहा है। भारतीय चिन्तन जहां तर्क के साथ—साथ आध्यात्मवादी है, वहीं पाश्चात्य चिन्तन केवल तर्कवादी है। यही कारण है जहां डा0 राधाकृष्णन् कहते हैं कि “दर्शन सत्य के स्वरूप की तार्किक विवेचना है”, वहीं प्लेटो के अनुसार “पदार्थों के सनातन स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना ही दर्शन है।”<sup>9</sup>

शिक्षा हमारे आचार—विचार में परिवर्तन करती है और इसमें नये ज्ञान की खोज करने के लिए अवलोकन, परीक्षण, चिन्तन और मनन शक्तियों का विकास करती है। उस ज्ञान एवं कौशल के आधार पर हम दर्शन का पुनर्निर्माण करते हैं तथा नई शिक्षा को जन्म देते हैं। उचित शिक्षा के अभाव में सारे चिन्तन व विकास व्यर्थ है। आज चारों तरफ अशांति, अव्यवस्थता, अर्थ की प्रधानता ही परिलक्षित हो रही है। वर्तमान स्थिति से खिन्न होकर डॉ0 राधाकृष्णन् कहते हैं कि आधुनिक युग आध्यात्मिक खोखलेपन, नैतिक विमूढ़ता तथा सामाजिक अराजकता का युग है। इतना ही नहीं वे तो इसे आर्थिक और बौद्धिक नृशंसता का युग भी कहते हैं।

इस प्रकार यदि सही अर्थों में हम इस अराजक स्थिति से उबरना चाहते हैं तो हमें “आत्मनः प्रतिकूलानि परेशां न समाचरेत” के साथ—साथ गीता के “आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति सः पश्यति।”<sup>10</sup> कथनों पर ध्यान देना होगा और ऐसा तभी होगा जब हम अपनी शिक्षा—प्रणाली पर ध्यान देंगे। मैकाले की शिक्षा—पद्धति से अपने को मुक्त करेंगे। शिक्षा तो वह है जो अध्यात्म एवं विज्ञान में, दर्शन और कला में एवं व्यवसाय व वृत्ति के सभी क्षेत्रों में शांति, सामन्जस्य एवं विश्व एकता की विश्वव्यापी संस्कृति को प्रोत्साहित करने हेतु आवश्यक सम्पन्नता एवं समृद्धि प्रदान कर सके। इस दिशा में स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान आधुनिक भारत के संत जैसे महर्षि दयानन्द सरस्वती ने प्रथम सिंहनाद किया तथा वे पुनः

वैदिक आधार की ओर उन्मुख हो गये और ऐसी शिक्षा—व्यवस्था की स्थापना की जो सुधार करने के साथ—साथ प्रगतिशील भी हो। उन्होंने गुरुकुल शिक्षा—पद्धति को विकसित किया।

शिक्षा—पद्धति के अनेकों मॉडल हैं, जैसे विवेकानन्द, टैगोर, गांधी, जे० कृष्णमूर्ति, रजनीश आदि का। वर्तमान शिक्षा केवल वृत्तात्मक (Informative) है, संस्कारात्मक (Formative) नहीं। इसका बल केवल डिग्री प्राप्त कर लेने पर है, न कि व्यक्तित्व के उभार पर। इसका लक्ष्य तो मनुष्य को जीवन के अन्तिम लक्ष्य की ओर उन्मुख करना होना चाहिए।

इसके लिए शिक्षक को प्रथम कार्य “यम व नियम” के दस सिद्धान्तों को विद्यार्थियों के मन में बैठाना है। यह यम है, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह है। पांच नियम हैं — शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश—प्रणिधान (ईश्वर के प्रति स्वकर्मारपण)। यदि विद्यार्थी इन यम—नियमों को आत्मसात् कर ले तो अत्यन्त स्वस्थ वातावरण का निर्माण कर सकते हैं। इसके साथ—साथ प्रकृति का सानिध्य एवं ध्यान भी आवश्यक है। साथ ही विकृत इतिहास की सही जानकारी विद्यार्थियों को देने के साथ—साथ महापुरुषों की कथाएं भी बतानी चाहिए। शिक्षक स्वयं विद्यार्थियों का आदर्श बनें ऐसा उनका आचरण होना चाहिए। हमारे यहां तो गर्भाधान के समय से ही संस्कारों की शिक्षा शुरू हो जाती है। 12 माता ही सर्वप्रथम गुरु हैं। परिवार के अन्य बन्धुओं से बालक का व्यवहार कैसा होना चाहिए, यह अथर्ववेद में स्पष्ट उल्लिखित है: —

अनुव्रतः पितुः पुत्रो माता भवतु संमनाः।

मा भ्रताः भ्रान्तरं द्विक्खन्मा स्वारमुत स्वसा।

सम्यन्धः .....

सम्यन्धोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः।।13

इस प्रकार हमारी प्राचीन भारतीय शिक्षा—पद्धति अत्यन्त वैज्ञानिक होने के साथ—साथ संस्कारवान थी। इससे व्यक्तित्व का सम्पूर्ण रूप से विकास होता था। परन्तु वर्तमान शिक्षा हमें संस्कारों व संस्कृतियों से दूर करते हुए केवल आजीविका का साधन मात्र बनकर रह गयी है। यह केवल एक दूसरे से आगे निकलने की होड़ अर्थात् चाह पैदा कर रही है। यह चाह उसके सम्पूर्ण जीवन के साथ लग जाती है।

अतः भारत में दर्शन की शिक्षा मैकाले की शिक्षा में एक अभीतपूर्व परिवर्तन ला सकती है। हम भारतीय मूल शिक्षा को दर किनार करके बेलगामपूर्वक पाश्चात्य शिक्षा को ग्रहण करते जा रहे हैं, जो आने वाले भविष्य के लिए खतरे की लाल बत्ती है।

निष्कर्ष के रूप में कह सकते हैं कि शिक्षा जगत् में दर्शन “एक पृथ्वी एक मानव” का उद्घोषक है। भारतीय दर्शन “सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामया”

का आदर्श प्रस्तुत करता है। “वसुधैव कुटुम्बकम्” इसका नारा है। भगवान बुद्ध के बहुजनहिताय बहुजन सुखाय उत्कृष्ट सुखवाद का लक्ष्य Each one for all (अर्थात् वह अपने लिए ही नहीं वरन सभी के लिए है)। सुकरात ने तो आज के ग्लोबलाइजेशन की बात बहुत अर्से पहले कह डाली कि मनुष्य केवल अपने नगर राज्य का सदस्य नहीं बल्कि मनुष्यों के सम्पूर्ण समुदाय का सदस्य भी है। वह केवल एथेंस और स्पार्टा का नागरिक नहीं, बल्कि ब्रह्माण्ड का नागरिक भी है। मेरी दृष्टि में शिक्षा जगत् में नैतिक मूल्यों के ह्रास होने की स्थिति में प्राथमिक और माध्यमिक कक्षाओं नैतिक दर्शन की पढ़ाई अनिवार्य महसूस होती है। 19वीं सदी में महान जर्मन दार्शनिक हेगेल ने अपने “प्रकृति के दर्शन” का निरूपण करने की कोशिश की। उनका विश्वास था कि सिर्फ दर्शन ही विश्व की सारी पहलियों को सही तौर से हल कर सकता है। अतएव शिक्षा जगत् में दर्शन की अनिवार्यता एक अमिट छाप छोड़ सकती है।

#### संदर्भ ग्रंथ सूची—

1. हिन्दू न्यू ऑफ लाइफ।
2. माडर्न हिस्ट्री — विपिन चन्द्रा।
3. कल्याण — बालक अंक
4. शिक्षा संवाद — जे० कृष्णमूर्ति
5. भारतीय दर्शन — (दोनों भाग) डॉ० राधाकृष्णन्
6. धर्म दर्शन — डॉ० वेद प्रकाश वर्मा
7. नीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त डा० वी०पी० वर्मा — 155
8. वही पृष्ठ 158
9. भगवद्गीता — डा० राधाकृष्णन्
10. हिन्दू व्यू ऑफ लाइफ — डॉ० राधाकृष्णन्
11. श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य अथवा कर्मयोग — पं० बाल गंगाधर तिलक
12. भारतीय संस्कृति और साधना — म०म०पं० गोपीनाथ कविराज
13. अथर्व काण्ड 3 अ० 6 सू० — 30 — 31, यंत्र 2—3 तथा 5—6

